

संस्कृत साहित्य में पर्यावरण चेतना का अध्ययन

श्रीनिवास वरखेड़ी

शोधार्थी, संस्कृत विभाग केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत

सार

आधुनिक युग में जलवायु-परिवर्तन, प्रदूषण, वनों के क्षरण और जैव-विविधता के ह्रास ने पर्यावरण संरक्षण को वैश्विक चिंता का विषय बना दिया है। इस संदर्भ में प्राचीन भारतीय चिंतन, विशेषतः संस्कृत साहित्य, में निहित प्रकृति-दृष्टि का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, शास्त्रीय काव्य और नाटक, आयुर्वेद, कृषि-विज्ञान तथा अर्थशास्त्र एवं स्मृति-ग्रंथों में अभिव्यक्त पर्यावरण-चेतना का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन द्वितीयक स्रोतों, अर्थात् मूल ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करणों, अनुवादों और परवर्ती विद्वानों के अध्ययनों पर आधारित है। शोध-पत्र में पृथ्वी को माता मानने की वैदिक दृष्टि, पंचमहाभूतों और ऋत की अवधारणा, यज्ञचक्र, वृक्षारोपण और जल-संरक्षण संबंधी निर्देश, कालिदास के काव्य में प्रकृति और मनुष्य का सहजीवन, चरक के जनपदोद्ध्वंस-विवेचन, सुरपाल के वृक्षायुर्वेद तथा कौटिल्य के वन-प्रशासन का अध्ययन किया गया है। निष्कर्ष यह है कि संस्कृत साहित्य में पर्यावरण की चिंता धार्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक और प्रशासनिक, चारों स्तरों पर विद्यमान है, किंतु उसे आधुनिक पर्यावरणवाद का सीधा पर्याय मानना या ग्रंथों के आदर्श को तत्कालीन व्यवहार से अभिन्न समझ लेना उचित नहीं होगा। प्राचीन ग्रंथ समकालीन पर्यावरण-नीति के लिए नैतिक आधार और प्रेरणा अवश्य प्रदान करते हैं।

कुंजी शब्द: संस्कृत साहित्य; पर्यावरण चेतना; पृथ्वी सूक्त; पंचमहाभूत; वृक्षायुर्वेद; कालिदास; प्रकृति संरक्षण

प्रस्तावना

मनुष्य और प्रकृति का संबंध मानव-सभ्यता का आदि प्रश्न है। औद्योगिक क्रांति के बाद विकास की जिस अवधारणा ने प्रकृति को केवल संसाधन के रूप में देखा, उसके दुष्परिणाम आज वायु-प्रदूषण, जल-संकट, मरुस्थलीकरण और जलवायु-परिवर्तन के रूप में सामने हैं। इन संकटों के समाधान के लिए तकनीकी और नीतिगत उपायों के साथ-साथ मूल्यगत और नैतिक दृष्टि की भी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इसी कारण विश्व की विभिन्न परंपराओं में निहित पारिस्थितिक चिंतन का अध्ययन किया जा रहा है। चैपल और टकर ने हिंदू

**National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and
Multidisciplinary Research (NCETAHMR)**

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

परंपरा में पृथ्वी, आकाश और जल से जुड़े पारिस्थितिक विचारों का विस्तृत संकलन प्रस्तुत किया है (चैपल और टकर, 3)। द्विवेदी और तिवारी ने भी वैदिक तथा परवर्ती साहित्य के आधार पर पर्यावरण-संकट और हिंदू धर्म के संबंध की चर्चा की है (द्विवेदी और तिवारी, 1)।

संस्कृत साहित्य भारतीय सभ्यता की सुदीर्घ ज्ञान-परंपरा का वाहक है। इसमें वेदों के प्रकृति-स्तवन से लेकर शास्त्रीय काव्यों के ऋतु-वर्णन और आयुर्वेद, अर्थशास्त्र तथा कृषि-शास्त्रों के व्यावहारिक निर्देशों तक प्रकृति और पर्यावरण के विविध पक्षों का वर्णन मिलता है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने पृथिवी-पुत्र में भारतीय संस्कृति की उस आधार-भावना को रेखांकित किया जिसमें मनुष्य स्वयं को पृथ्वी की संतान मानता है (अग्रवाल, 5)। इस भावना ने भारतीय जीवन-दृष्टि में प्रकृति के प्रति आदर और कृतज्ञता का भाव विकसित किया। बलदेव उपाध्याय ने भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में वैदिक ऋचाओं की प्रकृति-पूजा और काव्य-परंपरा में प्रकृति-चित्रण की विशेषताओं का विवेचन किया है (उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, 25)।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पर्यावरण या इकोलॉजी जैसी आधुनिक संकल्पनाएँ प्राचीन ग्रंथों में उसी रूप में उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में पर्यावरण का विचार पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, पशु-पक्षी और ऋतु-चक्र के प्रति धार्मिक-नैतिक कर्तव्य, जीवन-शास्त्र और राज-धर्म की भाषा में व्यक्त हुआ है। इसलिए इस विषय के अध्ययन में उस भाषा को समझना और अतिरंजना से बचना, दोनों आवश्यक हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी संतुलित दृष्टि से संस्कृत साहित्य में पर्यावरण-चेतना के विविध पक्षों का अध्ययन करता है।

साहित्य समीक्षा

संस्कृत साहित्य के इतिहास पर ए. बी. कीथ और विंटरनिज़ के ग्रंथ मूलभूत माने जाते हैं। कीथ ने वैदिक काल से लेकर शास्त्रीय काल तक के साहित्य की धाराओं का व्यवस्थित परिचय दिया है और कालिदास की कविता में प्रकृति-चित्रण की विशेषताओं को रेखांकित किया है (कीथ, 80)। विंटरनिज़ ने वैदिक और महाकाव्य-साहित्य की व्यापक विवेचना की है (विंटरनिज़, 70)। हिंदी में बलदेव उपाध्याय के संस्कृत साहित्य का इतिहास तथा वैदिक साहित्य और संस्कृति, और कपिलदेव द्विवेदी के वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में वैदिक देवताओं के प्रकृति-रूप और ऋचाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ का विस्तृत विवेचन मिलता है (उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, 40; कपिलदेव द्विवेदी, 55)।

**National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and
Multidisciplinary Research (NCETAHMR)**

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

पर्यावरण और धर्म के संबंध पर अंग्रेजी में उल्लेखनीय कार्य हुआ है। नेल्सन द्वारा संपादित संग्रह में हिंदू भारत में धर्म और पारिस्थितिकी के संबंध पर विविध लेख हैं (नेल्सन, 1), और चैपल तथा टकर के संपादित ग्रंथ में वैदिक और परवर्ती परंपराओं की पर्यावरण-दृष्टि को समेटा गया है (चैपल और टकर, 3)। इन अध्ययनों के साथ गाडगिल और गुहा का ऐतिहासिक-पारिस्थितिकीय अध्ययन महत्वपूर्ण है, जो बताता है कि भारतीय समाज में संसाधनों के उपयोग और उनकी रक्षा के संबंध में परंपराएँ विद्यमान थीं, किंतु उन्हें आदर्श अवस्था के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक असमानताओं और संघर्षों के संदर्भ में समझा जाना चाहिए (गाडगिल और गुहा, 80)।

मूल ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करणों और अनुवादों का भी इस अध्ययन में उपयोग किया गया है। अथर्ववेद का व्हिटनी-कृत अनुवाद पृथ्वी सूक्त के पाठ के लिए (व्हिटनी, 660), ऋग्वेद का डोनिगर-कृत अनुवाद ऋचाओं के लिए (डोनिगर, 25), उपनिषदों का राधाकृष्णन-कृत संस्करण (राधाकृष्णन, उपनिषद्, 569), कौटिल्य के अर्थशास्त्र का कांगले-कृत संस्करण तथा रंगराजन-कृत अनुवाद (कांगले, 120; रंगराजन, 190), चरक संहिता का शर्मा और दश-कृत संस्करण (शर्मा और दश, 300), सुरपाल के वृक्षायुर्वेद का सधले-कृत अनुवाद (सधले, 15) तथा कालिदास के नाटक और काव्य के सुलभ संस्करण (काले, 60) आधारभूत स्रोत हैं। इस अध्ययन की विशेषता यह है कि विभिन्न विधाओं के स्रोतों को एक साथ रखकर पर्यावरण-चेतना को बहुस्तरीय रूप में देखने का प्रयास किया गया है।

शोध के उद्देश्य

इस अध्ययन के उद्देश्य हैं:

- (i) संस्कृत साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण से संबंधित मूल अवधारणाओं की पहचान करना
- (ii) वैदिक, उपनिषदिक, महाकाव्य, पौराणिक और शास्त्रीय साहित्य में पर्यावरण-चेतना की अभिव्यक्ति का विश्लेषण करना
- (iii) आयुर्वेद, वृक्षायुर्वेद, अर्थशास्त्र और स्मृति-ग्रंथों के व्यावहारिक निर्देशों का मूल्यांकन करना
- (iv) इन विचारों की समकालीन पर्यावरणीय प्रासंगिकता का आकलन करना

शोध-पत्र दो प्रश्नों पर केंद्रित है। प्रथम, संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं में पर्यावरण-चेतना किन रूपों में अभिव्यक्त हुई है? द्वितीय, इस चेतना का आधुनिक पर्यावरण-चिंतन और नीति के लिए क्या महत्त्व है तथा इसकी सीमाएँ क्या हैं?

शोध पद्धति

यह अध्ययन वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक है तथा पूर्णतः द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। मूल संस्कृत ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण, उनके हिंदी और अंग्रेज़ी अनुवाद तथा संस्कृत साहित्य और पर्यावरण पर लिखे गए परवर्ती अध्ययन इस शोध के स्रोत हैं। ग्रंथों का चयन विधागत प्रतिनिधित्व के आधार पर किया गया है: वेद, उपनिषद्, महाकाव्य, पुराण, काव्य-नाटक तथा शास्त्रीय विज्ञान-ग्रंथ। विश्लेषण में विषयगत पद्धति अपनाई गई है। अध्ययन की सीमाएँ भी हैं। सभी ग्रंथों का मूल पाठ-आधारित सूक्ष्म विश्लेषण इस शोध-पत्र के आकार में संभव नहीं है, प्राचीन ग्रंथों की तिथि और पाठ-परंपरा विवादित है, तथा ग्रंथों में निहित आदर्श और ऐतिहासिक व्यवहार में अंतर हो सकता है। इसलिए निष्कर्ष विचार-परंपरा की प्रवृत्तियों के रूप में समझे जाने चाहिए, न कि ऐतिहासिक व्यवहार की पूर्ण पुष्टि के रूप में।

पर्यावरण चेतना: अवधारणा और संस्कृत परंपरा की दृष्टि

पर्यावरण चेतना का अर्थ है मनुष्य का यह बोध कि उसका अस्तित्व प्राकृतिक परिवेश से अविभाज्य रूप से जुड़ा है तथा उसके कार्यों का प्रभाव प्रकृति और भावी पीढ़ियों पर पड़ता है। संस्कृत में पर्यावरण के लिए प्रायः परि और आवरण, अर्थात् जो चारों ओर से घेरे हुए है, इस अर्थ का बोध होता है। संस्कृत साहित्य में इस विचार को अलग शब्द की अपेक्षा अनेक अवधारणाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इनमें प्रमुख हैं: पंचमहाभूत, ऋत, यज्ञ, प्रकृति, भूमि और पृथ्वी की मातृ-रूप कल्पना, तथा त्याग और अपरिग्रह के नैतिक सिद्धांत।

पंचमहाभूत का सिद्धांत संपूर्ण सृष्टि को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पाँच मूल तत्त्वों से निर्मित मानता है। इस दृष्टि में मानव-शरीर और बाह्य प्रकृति एक ही तत्त्वों से बने हैं, इसलिए दोनों में आंतरिक एकता है। उपाध्याय ने वैदिक साहित्य में इन तत्त्वों के देवता-रूप और उनके प्रति आदर की भावना का विवेचन किया है (उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, 40)। ऋत की अवधारणा प्रकृति और नैतिक जगत, दोनों की व्यवस्था-शक्ति है। ऋतुओं का क्रम, नदियों का प्रवाह, सूर्य और चंद्रमा की गति ऋत के अधीन हैं और मनुष्य से अपेक्षा की गई है कि वह इस व्यवस्था के अनुरूप आचरण करे (द्विवेदी, कपिलदेव, 60)। इस प्रकार प्रकृति-व्यवस्था का आदर नैतिक कर्तव्य बन जाता है।

यज्ञ की अवधारणा आदान-प्रदान और परस्पर निर्भरता का सिद्धांत है। भगवद्गीता में कहा गया है कि प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से और यज्ञ कर्म से (राधाकृष्णन, भगवद्गीता, 3.14 का भाष्य, 142)। यह श्लोक जीवन-चक्र की परस्पर निर्भरता को सरल रूप में व्यक्त करता है, जिसमें मनुष्य प्रकृति से लेकर उसे लौटाने के कर्तव्य से बंधा है। पंचमहायज्ञों में भूतयज्ञ, अर्थात् अन्य प्राणियों के लिए अन्न का अंश निकालना, मनुष्येतर जीवों के प्रति दायित्व की स्वीकृति है (ओलिवेल, 3.70 पर टिप्पणी, 90)। ये अवधारणाएँ मिलकर ऐसी जीवन-दृष्टि बनाती हैं जिसमें उपभोग के साथ दायित्व जुड़ा हुआ है।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण चेतना

अथर्ववेद का बारहवाँ काण्ड, जिसमें प्रसिद्ध भूमि सूक्त या पृथ्वी सूक्त है, वैदिक पर्यावरण-चिंतन का प्रमुख स्रोत है। इसकी एक पंक्ति है: माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ (व्हिटनी, 660)। इस सूक्त में पृथ्वी को पर्वतों, नदियों, वनस्पतियों, औषधियों और विविध मानव-समुदायों की धारक के रूप में स्तुति की गई है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस भाव को भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का मूल माना है कि भूमि केवल संपत्ति नहीं बल्कि माता है (अग्रवाल, 5)। जब पृथ्वी माता के रूप में देखी जाती है तो उसके प्रति शोषण नहीं बल्कि आदर और कृतज्ञता का भाव स्वाभाविक बन जाता है।

इस सूक्त में पृथ्वी से यह प्रार्थना भी की गई है कि उसके खोदे जाने से उसे कष्ट न पहुँचे और उसके घाव शीघ्र भर जाएँ (व्हिटनी, 665)। इसमें खनन और कृषि जैसे मानवीय कार्यों से प्रकृति पर पड़ने वाले प्रभाव के प्रति संवेदनशीलता दिखाई देती है, जो एक प्रकार की आरंभिक पर्यावरणीय नैतिकता का संकेत है। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान देना होगा कि यह सूक्त पूजा और प्रार्थना की भाषा में है, न कि संरक्षण-नीति की भाषा में।

ऋग्वेद में आपः, अर्थात् जल, को जीवनदायी और कल्याणकारी माना गया है। आपो हि ष्ठा मयोभुवः जैसी ऋचाएँ जल को सुख देने वाली शक्ति के रूप में स्तुत करती हैं (डोनिगर, 25)। नदी सूक्त में सिंधु, सरस्वती आदि नदियों की स्तुति है। वायु, सूर्य, अग्नि और पर्जन्य जैसे देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। ऋग्वेद का अरण्यानी सूक्त वन की देवी की स्तुति करता है, जिसमें वन की शांति, उसकी रहस्यमयता और उसमें जीवों के निर्भय निवास का सुंदर चित्रण है (डोनिगर, 330)। कपिलदेव द्विवेदी ने वैदिक देवताओं को प्रकृति-शक्तियों के रूप में समझाया है (कपिलदेव द्विवेदी, 55)।

National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and Multidisciplinary Research (NCETAHMR)

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

यजुर्वेद का शांति-पाठ वैदिक पर्यावरण-भावना का सारगर्भित उदाहरण है। इसमें द्यौ, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधियों, वनस्पतियों और सभी देवताओं के लिए शांति की कामना की गई है: द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः (उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, 120)। यहाँ शांति केवल मनुष्य-समाज के लिए नहीं, बल्कि समस्त प्राकृतिक घटकों के लिए माँगी गई है। इस प्रकार मानव-कल्याण और प्रकृति-कल्याण को अलग-अलग नहीं देखा गया है। यह दृष्टि आधुनिक पारिस्थितिक चिंतन के उस विचार के निकट है जिसमें मनुष्य को पारिस्थितिक तंत्र का एक अंग माना जाता है।

उपनिषद् और दर्शन में प्रकृति और एकात्मता

उपनिषदों में प्रकृति और ब्रह्म के संबंध को अद्वैत और एकात्मता की दृष्टि से देखा गया है। ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम मंत्र है: ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्, अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी चराचर है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है; इसलिए त्याग-भाव से भोग करो और किसी के धन का लोभ मत करो (राधाकृष्णन, उपनिषद्, 569)। यह मंत्र उपभोग की मर्यादा का सूत्र है। यदि सब कुछ एक ही परम सत्ता से व्याप्त है तो प्रकृति पर किसी का अनन्य अधिकार नहीं, और उसका उपयोग संयम के साथ होना चाहिए। चैपल और टकर ने ऐसे ही स्थलों को हिंदू पारिस्थितिक चिंतन के मूल आधार के रूप में देखा है (चैपल और टकर, 3)।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष की अवधारणा तथा सत्त्व, रज और तम गुणों के द्वारा सृष्टि का विकास समझाया गया है। इस दर्शन में प्रकृति निर्जीव या मात्र भोग्य वस्तु नहीं, बल्कि सृष्टि का सक्रिय आधार है। अन्य दर्शनों में भी जीवों के प्रति करुणा, अहिंसा और सभी प्राणियों में एक ही चेतना की भावना मिलती है, जिसे वसुधैव कुटुम्बकम् जैसे सूत्रों में अभिव्यक्ति मिली। कीथ ने भारतीय दार्शनिक चिंतन में अहिंसा और जीव-दया की परंपरा की चर्चा की है (कीथ, 480)। ये विचार पर्यावरण-नैतिकता के लिए दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं, यद्यपि प्राचीन दार्शनिकों का मुख्य प्रयोजन मोक्ष और आत्म-ज्ञान था।

रामायण, महाभारत और पुराणों में प्रकृति और वृक्ष-संरक्षण

महाकाव्यों में प्रकृति कथा की पृष्ठभूमि मात्र नहीं, बल्कि जीवंत उपस्थिति है। वाल्मीकि रामायण का एक बड़ा भाग वनवास की कथा है, जिसमें चित्रकूट, दंडकारण्य और पंचवटी के वन, नदियाँ, पर्वत और ऋषि-आश्रमों का विस्तृत वर्णन है (वाल्मीकि, अरण्यकांड, 220)। यहाँ वन भयावह और रमणीय दोनों रूपों में चित्रित हुए हैं,

**National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and
Multidisciplinary Research (NCETAHMR)**

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

और वन में रहने वाले ऋषि और वनवासी जीवन प्रकृति के साथ सहजीवन के उदाहरण हैं। राम का वनगमन स्वयं मानव-जीवन में प्रकृति के साथ रहने की स्वीकृति का प्रतीक भी माना जा सकता है। सीता के विरह में राम का वृक्षों, पशुओं और नदियों से प्रश्न करना प्रकृति के प्रति आत्मीयता का भाव प्रकट करता है।

महाभारत में वनपर्व तीर्थ-यात्राओं के बहाने नदियों, सरोवरों, पर्वतों और वनों के माहात्म्य का विशद वर्णन करता है। तीर्थ-यात्रा की परंपरा ने भौगोलिक स्थलों, जलाशयों और नदियों को पवित्रता के साथ जोड़कर उनके संरक्षण की सामाजिक प्रेरणा दी (व्यास, वनपर्व, 410)। पुराणों में वृक्षारोपण और जलाशय-निर्माण को महान पुण्य कहा गया है। मत्स्यपुराण का प्रसिद्ध वचन है: दशकूपसमा वापी दशवापीसमो हृदः। दशहृदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः, अर्थात् दस कुओं के बराबर एक बावड़ी, दस बावड़ियों के बराबर एक सरोवर, दस सरोवरों के बराबर एक पुत्र और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष है (मत्स्यपुराण, 154)। यहाँ वृक्ष का महत्त्व सर्वोपरि बताया गया है, और वृक्षारोपण को धार्मिक कर्तव्य का रूप दिया गया है।

पुराणों और लोक-परंपरा में पीपल, वट, तुलसी, आँवला और बेल जैसे वृक्षों-पौधों की पूजा तथा नदियों, विशेषतः गंगा, यमुना और नर्मदा की देवी रूप में उपासना, पर्यावरण-संरक्षण की सामाजिक विधि के रूप में भी पढ़ी जाती है। नेल्सन के संग्रह में हिंदू भारत में नदियों, वृक्षों और पवित्र उपवनों के धार्मिक-सांस्कृतिक महत्त्व पर कई अध्ययन हैं (नेल्सन, 1)। फिर भी महाभारत के खांडव-दहन जैसे प्रसंग, जहाँ एक विशाल वन को अग्नि को अर्पित कर दिया जाता है, आलोचकों के लिए विवाद का विषय रहे हैं। कुछ पाठकों के अनुसार यह वन-विनाश का उदाहरण है जो इस धारणा को चुनौती देता है कि प्राचीन ग्रंथों में प्रकृति के प्रति एकांगी आदर है। यह स्थल बताता है कि संस्कृत साहित्य में प्रकृति के प्रति दृष्टियाँ बहुरंगी हैं और उन्हें सरल निष्कर्षों में बाँधना ठीक नहीं।

शास्त्रीय काव्य और नाटक में प्रकृति: कालिदास

शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में प्रकृति-चित्रण अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में कालिदास के काव्य और नाटकों में मिलता है। उनके यहाँ प्रकृति पात्र की भाँति सक्रिय है और मानवीय भावनाओं से संवाद करती है। कीथ ने कालिदास को प्रकृति और मानव-भाव के सूक्ष्म समन्वय का कवि कहा है (कीथ, 80)। ऋतुसंहार में छह ऋतुओं का क्रमिक वर्णन है, जिसमें ग्रीष्म की तपन, वर्षा की उमंग, शरद की निर्मलता, हेमंत और शिशिर की ठंड तथा वसंत का उल्लास मानव-हृदय के भावों से जुड़कर प्रकट होता है। मेघदूत में यक्ष का संदेश वाहक बादल मार्ग

के पर्वतों, नदियों, वनों और नगरों के चित्र से भारतीय भौगोलिक परिवेश का काव्यात्मक मानचित्र रच देता है (काले, मेघदूत, 15)। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में पर्यावरण-संवेदना का सबसे मार्मिक रूप दिखता है। कण्व का तपोवन एक ऐसा आश्रम है जिसमें मनुष्य, वृक्ष, लताएँ और मृग-शावक एक परिवार की भाँति रहते हैं। शकुन्तला आश्रम के वृक्षों और लताओं को सींचती है, वनज्योत्स्ना लता को बहन की तरह प्यार करती है और मृग-शावक को पुत्रवत् पालती है। चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदाई के समय कण्व आश्रम के वृक्षों से कहते हैं कि जो शकुन्तला आपको सींचे बिना पहले स्वयं जल पीना नहीं चाहती थी, वह अब पतिगृह जा रही है, आप सब उसे अनुमति दें: पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या (काले, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 108)। इस प्रसंग में पर्यावरण केवल बाह्य वस्तु नहीं, बल्कि परिवार का अंग है, और उसके साथ संबंध पारस्परिक स्नेह और कर्तव्य का है।

रघुवंश में राजा दिलीप द्वारा नंदिनी गाय की सेवा का वर्णन वन, पशु और मनुष्य के सहजीवन का दूसरा उदाहरण है, जिसमें राजा वन में गाय के पीछे-पीछे चलकर उसकी रक्षा करता है (नंदरगिकर, 30)। कालिदास के काव्य में आश्रम, उपवन और वन-जीवन आदर्श मानव-जीवन के रूप में चित्रित होते हैं। भवभूति के उत्तररामचरित में भी दंडकारण्य के वनों और प्रकृति का भावपूर्ण वर्णन मिलता है। इन रचनाओं की साहित्यिक विशेषता यह है कि वे पाठक में प्रकृति के प्रति आत्मीयता और सौंदर्य-बोध जगाती हैं, जो पर्यावरण-चेतना की भावनात्मक भूमि है। आधुनिक पर्यावरण-शिक्षा में भी संवेदनात्मक जुड़ाव को संरक्षण की पहली सीढ़ी माना जाता है।

शास्त्रीय विज्ञान-ग्रंथों में पर्यावरण: आयुर्वेद, वृक्षायुर्वेद, अर्थशास्त्र और स्मृति

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ चरक संहिता के विमानस्थान में जनपदोद्ध्वंस, अर्थात् पूरे जनपद के नाश के कारणों का विवेचन है। चरक के अनुसार वायु, जल, देश (भूमि) और काल (ऋतु) जब विकृत हो जाते हैं तब महामारियों से पूरे समुदाय का नाश होता है, भले ही लोगों की प्रकृति, आहार और शरीर-बल भिन्न-भिन्न हों (शर्मा और दश, 300)। यह विवेचन पर्यावरणीय प्रदूषण और सामुदायिक स्वास्थ्य के संबंध की प्राचीन पहचान है। चरक यह भी बताते हैं कि दूषित वायु, जल और भूमि के दौर में औषधियाँ भी अपने गुण खो देती हैं, इसलिए पहले से ही शुद्ध स्थान से औषधि-संग्रह की सलाह दी गई है। आधुनिक सार्वजनिक स्वास्थ्य में पर्यावरण-स्वास्थ्य के संबंध की जो समझ है, उसकी एक प्राचीन झलक इस विवेचन में दिखाई देती है।

**National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and
Multidisciplinary Research (NCETAHMR)**

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

सुरपाल कृत वृक्षायुर्वेद वृक्षों और पौधों के रोपण, पोषण, रोग-उपचार और संरक्षण का विशिष्ट शास्त्रीय ग्रंथ है। सधले द्वारा किए गए इसके अनुवाद से ज्ञात होता है कि इसमें भूमि के चयन, बीज-उपचार, रोपण के समय, सिंचाई, खाद, रोगों के उपचार और उपवन-निर्माण के लिए विस्तृत निर्देश हैं (सधले, 15)। इस ग्रंथ में वृक्षों को जीवित प्राणी की भाँति देखभाल का पात्र माना गया है, जिसके रोगी होने पर उपचार और स्वस्थ रहने पर पोषण का विधान है। यह ग्रंथ पारंपरिक वनस्पति-विज्ञान और उद्यान-विज्ञान का समृद्ध उदाहरण है और दर्शाता है कि वृक्षारोपण केवल धार्मिक कर्तव्य नहीं, व्यवस्थित ज्ञान-परंपरा का विषय भी था। अर्थशास्त्र में राज्य के प्रशासन में वन और वन-उपज की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की गई है। कौटिल्य ने वन-उपज के अध्यक्ष (कुष्याध्यक्ष) की नियुक्ति, द्रव्यवन और हस्तिवन के संरक्षण तथा पशु-पक्षियों के लिए अभय-वन अर्थात् संरक्षित वन के उल्लेख किए हैं, और वृक्षों को हानि पहुँचाने के लिए दंड के संकेत भी दिए हैं (कांगले, 120; रंगराजन, 190)। इनसे पता चलता है कि प्राचीन राज्य-व्यवस्था में वन-संपदा को राजस्व और सैन्य-दृष्टि से मूल्यवान मानकर उसके प्रबंधन की व्यवस्था थी। गाडगिल और गुहा के अनुसार संसाधनों पर राजकीय नियंत्रण और सामुदायिक अधिकार के बीच संबंध प्राचीन भारत में भी जटिल रहा, और वन-प्रबंधन के पीछे आर्थिक हित स्पष्ट थे (गाडगिल और गुहा, 80)। अतः अर्थशास्त्र की वन-नीति संरक्षण और उपयोग के बीच संतुलन की प्रशासनिक चेष्टा है, न कि शुद्ध पारिस्थितिक आग्रह।

मनुस्मृति में दैनंदिन आचार के अंतर्गत जल, मार्ग और भूमि को अशुद्ध न करने के अनेक निर्देश हैं। जल में मल-मूत्र या थूक न डालने जैसे नियम जल-स्वच्छता की धार्मिक भाषा में कही गई सामाजिक आचार-संहिता हैं (ओलिवेल, 4.56 पर टिप्पणी, 110)। इसी ग्रंथ में फलदार और पुष्पित वृक्षों को काटने पर प्रायश्चित्त का विधान है (ओलिवेल, 11.142 पर टिप्पणी, 210)। इन नियमों में अपराध-बोध और प्रायश्चित्त की धार्मिक भाषा के माध्यम से सामाजिक आचरण को नियंत्रित करने का प्रयास दिखाई देता है। ऐसी आचार-संहिताओं का सामाजिक कार्य आचरण को दिशा देना था, किंतु इन नियमों के वास्तविक प्रवर्तन के प्रमाण सीमित हैं।

संस्कृत साहित्य की पर्यावरण-दृष्टि के प्रमुख सिद्धांत

ऊपर के विवेचन से संस्कृत साहित्य की पर्यावरण-दृष्टि के कुछ मूल सिद्धांत उभरते हैं। प्रथम, मातृत्व और कृतज्ञता का सिद्धांत, जिसमें पृथ्वी को माता मानकर उसके प्रति आदर व्यक्त किया गया है (व्हिटनी, 660)। द्वितीय, एकात्मता और परस्पर-निर्भरता का सिद्धांत, जिसमें पंचमहाभूतों की एकता और यज्ञ-चक्र की धारणा

**National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and
Multidisciplinary Research (NCETAHMR)**

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

से मनुष्य और प्रकृति का अविभाज्य संबंध स्वीकार किया गया है (राधाकृष्णन, भगवद्गीता, 142)। तृतीय, संयम और त्याग का सिद्धांत, जो ईशावास्य के त्यक्तेन भुञ्जीथाः के रूप में उपभोग पर नैतिक अंकुश लगाता है (राधाकृष्णन, उपनिषद्, 569)। चतुर्थ, पुण्य और कर्तव्य के रूप में वृक्षारोपण और जलाशय-निर्माण का सिद्धांत (मत्स्यपुराण, 154)। पंचम, स्वास्थ्य और पर्यावरण का संबंध, जो चरक के जनपदोद्ध्वंस-विवेचन में दिखता है (शर्मा और दश, 300)। षष्ठ, प्रशासनिक संरक्षण का सिद्धांत, जो अर्थशास्त्र की वन-नीति में दिखाई देता है (कांगले, 120)।

इन सिद्धांतों में एक विशेषता यह है कि पर्यावरण-संरक्षण को बाहर से थोपे गए नियम के रूप में नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि, धर्म और संस्कृति के अंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। द्विवेदी और तिवारी का मत है कि इस प्रकार की धार्मिक प्रेरणा से पर्यावरणीय नैतिकता को समाज में स्वीकृति दिलाना अपेक्षाकृत सहज हो सकता है (द्विवेदी और तिवारी, 1)। परंतु इन सिद्धांतों की सीमा यह है कि वे स्वयं में नीति-निर्माण या वैज्ञानिक प्रबंधन का स्थान नहीं ले सकते। उनकी शक्ति नैतिक प्रेरणा में है, और आधुनिक युग में उन्हें विज्ञान, कानून और सामुदायिक सहभागिता के साथ जोड़ने की आवश्यकता है। सिद्धांत के साथ-साथ लोक-परंपरा में भी इन विचारों की जीवंत उपस्थिति दिखाई देती है। भारत के अनेक क्षेत्रों में पवित्र उपवनों की परंपरा रही है, जिनमें किसी देवता के नाम पर वन का एक भाग संरक्षित रखा जाता है और उसमें वृक्ष काटना या शिकार करना वर्जित माना जाता है। नेल्सन के संग्रह में हिंदू भारत में ऐसे पवित्र स्थलों, नदियों और वृक्षों की धार्मिक-सांस्कृतिक भूमिका का विवेचन मिलता है (नेल्सन, 1)। इसी प्रकार तालाबों, कुओं और बावड़ियों के निर्माण को पुण्य-कर्म मानने की परंपरा ने जल-संग्रह की सामुदायिक व्यवस्थाओं को सामाजिक स्वीकृति दी, जिसका संकेत मत्स्यपुराण के वृक्ष और जलाशय संबंधी वचन में भी मिलता है (मत्स्यपुराण, 154)। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय विचार और लोक-आचरण परस्पर पोषित करते थे और पर्यावरण-संरक्षण को समाज की साझा धार्मिक-नैतिक जिम्मेदारी के रूप में देखा जाता था।

यद्यपि यह भी ध्यान रखना होगा कि ऐसी परंपराओं की शक्ति स्थानीय समुदाय की स्वीकृति और संसाधनों पर उसके नियंत्रण पर निर्भर करती थी। जहाँ समुदाय के अधिकार कमज़ोर हुए या बाहरी आर्थिक दबाव बढ़े, वहाँ ये परंपराएँ भी कमज़ोर पड़ीं। गाड़गिल और गुहा का ऐतिहासिक विश्लेषण इसी सामाजिक-आर्थिक संदर्भ

पर बल देता है (गाडगिल और गुहा, 80)। इसलिए पारंपरिक संरक्षण-प्रथाओं को पुनर्जीवित करने के प्रयास में समुदाय के अधिकारों और भागीदारी को केंद्र में रखना आवश्यक है।

समकालीन प्रासंगिकता और आलोचनात्मक विमर्श

संस्कृत साहित्य में निहित पर्यावरण-दृष्टि आज कई स्तरों पर प्रासंगिक है। पहला, शिक्षा और मूल्य-निर्माण के स्तर पर। पृथ्वी को माता और प्रकृति को परिवार का अंग मानने की दृष्टि बच्चों और युवाओं में प्रकृति के प्रति संवेदना जगा सकती है। दूसरा, संयम और टिकाऊ उपभोग के स्तर पर। ईशावास्य का त्याग-सिद्धांत उपभोक्तावादी सभ्यता के लिए एक वैकल्पिक नैतिक आधार दे सकता है। तीसरा, पारंपरिक ज्ञान के स्तर पर। वृक्षायुर्वेद, आयुर्वेद और परंपरागत जल-प्रबंधन के ज्ञान का वैज्ञानिक अध्ययन आधुनिक कृषि, औषधि और जैव-विविधता संरक्षण के लिए उपयोगी हो सकता है (सधले, 15)। चौथा, सांस्कृतिक-सामुदायिक स्तर पर। पवित्र उपवनों, नदियों और वृक्षों की पूजा की परंपरा समुदाय-आधारित संरक्षण का आधार बन सकती है (नेल्सन, 1)। इस विषय के अध्ययन में कुछ आलोचनात्मक प्रश्न उठाना आवश्यक है। प्रथम, पाठ और व्यवहार का अंतर। ग्रंथों में प्रकृति के प्रति आदर की भावना होने का अर्थ यह नहीं कि समाज ने सदा उसी के अनुसार आचरण किया। गाडगिल और गुहा ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर दिखाया कि भारत में भी संसाधनों का दोहन, वनों की कटाई और सामाजिक असमानता आधारित उपयोग के प्रमाण मिलते हैं (गाडगिल और गुहा, 80)। द्वितीय, आदर्शिकरण का खतरा। प्राचीन भारत को पर्यावरणीय स्वर्ण-युग के रूप में चित्रित करना ऐतिहासिक दृष्टि से अपर्याप्त है। तृतीय, विविधता का प्रश्न। संस्कृत साहित्य में दृष्टियाँ एकरस नहीं हैं; खांडव-दहन जैसे प्रसंग इस जटिलता के संकेत हैं।

चतुर्थ, पर्यावरणवाद की आधुनिक संकल्पनाओं का आरोपण। वैज्ञानिक पारिस्थितिकी, जैव-विविधता और जलवायु-परिवर्तन जैसी अवधारणाएँ आधुनिक विज्ञान की देन हैं और उन्हें प्राचीन ग्रंथों में ज्यों का त्यों खोजना अनुचित होगा। पंचम, सामाजिक न्याय का प्रश्न। पर्यावरणीय परंपराओं और संसाधनों पर अधिकार के मामले में जाति, वर्ग और लिंग की भूमिका को भी देखना आवश्यक है। इसी कारण चैपल और टकर जैसे संपादित संग्रह भी परंपरा के सकारात्मक पक्षों के साथ उसकी आलोचनात्मक पड़ताल को आवश्यक मानते हैं (चैपल और टकर, 3)। संतुलित दृष्टि यह है कि प्राचीन साहित्य को नैतिक प्रेरणा और ज्ञान-परंपरा के स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाए, परंतु उसकी ऐतिहासिक सीमाओं का भी बोध रखा जाए।

National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and Multidisciplinary Research (NCETAHMR)

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

निष्कर्ष

इस शोध-पत्र में संस्कृत साहित्य में पर्यावरण-चेतना का अध्ययन किया गया। विश्लेषण से स्पष्ट हुआ कि वैदिक साहित्य में पृथ्वी को माता मानने की भावना, जल और वनस्पति की स्तुति तथा शांति-पाठ में समस्त प्रकृति के लिए कल्याण-कामना पर्यावरण-चेतना की नींव रखती है; उपनिषदों में एकात्मता और त्याग का सिद्धांत उपभोग की मर्यादा तय करता है; महाकाव्यों और पुराणों में वनों, नदियों और वृक्षों का आदर तथा वृक्षारोपण की महिमा मिलती है; कालिदास जैसे कवियों ने प्रकृति और मनुष्य के आत्मीय संबंध को काव्यात्मक रूप दिया; और चरक, सुरपाल, कौटिल्य तथा मनु जैसे ग्रंथों ने स्वास्थ्य, कृषि, प्रशासन और आचार के स्तर पर व्यावहारिक निर्देश प्रस्तुत किए। प्रथम शोध प्रश्न का उत्तर यह है कि संस्कृत साहित्य में पर्यावरण-चेतना धार्मिक-नैतिक, दार्शनिक, काव्यात्मक, वैज्ञानिक और प्रशासनिक, अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। द्वितीय प्रश्न के संबंध में निष्कर्ष यह है कि ये विचार आधुनिक पर्यावरण-चिंतन के लिए नैतिक प्रेरणा और पारंपरिक ज्ञान का समृद्ध स्रोत हैं, परंतु इन्हें आधुनिक पर्यावरणवाद का पर्याय या तत्कालीन व्यवहार का प्रमाण मान लेना उचित नहीं है। इनका सर्वोत्तम उपयोग तब होगा जब इन्हें विज्ञान, कानून और सामुदायिक सहभागिता के साथ जोड़ा जाए। भविष्य में इस विषय पर पाठ-आधारित सूक्ष्म अध्ययन, क्षेत्रीय परंपराओं के अध्ययन और पारंपरिक ज्ञान के वैज्ञानिक परीक्षण के माध्यम से और कार्य किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य हमें यह स्मरण कराता है कि प्रकृति की रक्षा केवल नीति का नहीं, संस्कार और कृतज्ञता का भी विषय है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण. पृथिवी-पुत्र. 1949 (प्रथम प्रकाशन); पुनर्प्रकाशित संस्करण.
2. उपाध्याय, बलदेव. वैदिक साहित्य और संस्कृति. शारदा मंदिर, वाराणसी, 1958.
3. उपाध्याय, बलदेव. संस्कृत साहित्य का इतिहास. शारदा मंदिर, वाराणसी, 1946 (प्रथम प्रकाशन).
4. द्विवेदी, कपिलदेव. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
5. मत्स्यपुराण. गीताप्रेस, गोरखपुर (अनेक संस्करण).
6. वाल्मीकि. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण. गीताप्रेस, गोरखपुर (अनेक संस्करण).
7. व्यास. महाभारत (वनपर्व सहित). गीताप्रेस, गोरखपुर (अनेक संस्करण).
8. Chapple, Christopher Key, and Mary Evelyn Tucker, editors. *Hinduism and Ecology: The Intersection of Earth, Sky, and Water*. Harvard University Press, Cambridge, MA, 2000.

**National Conference on Emerging Trends in Arts, Humanities and
Multidisciplinary Research (NCETAHMR)**

Organized by- Navyug College of Education, Hisar (16 Aug 2026)

In IJESH ISSN: 2250-3115

9. Doniger, Wendy, translator. *The Rig Veda: An Anthology*. Penguin Books, 1981.
10. Dwivedi, O. P., and B. N. Tiwari. *Environmental Crisis and Hindu Religion*. Gitanjali Publishing House, New Delhi, 1987.
11. Gadgil, Madhav, and Ramachandra Guha. *This Fissured Land: An Ecological History of India*. Oxford University Press, Delhi, 1992.
12. Kale, M. R., editor. *The Abhijnanasakuntalam of Kalidasa*. Motilal Banarsidass, Delhi, 1969.
13. Kale, M. R., editor. *The Meghaduta of Kalidasa*. Motilal Banarsidass, Delhi, 1969.
14. Kangle, R. P. *The Kautiliya Arthashastra*. 3 parts, University of Bombay, 1960-1965.
15. Keith, A. Berriedale. *A History of Sanskrit Literature*. Oxford University Press, 1928.
16. Nandargikar, G. R., editor. *The Raghuvamsa of Kalidasa*. Motilal Banarsidass, Delhi, 1971.
17. Nelson, Lance E., editor. *Purifying the Earthly Body of God: Religion and Ecology in Hindu India*. State University of New York Press, 1998.
18. Olivelle, Patrick, translator. *The Law Code of Manu*. Oxford University Press, 2004.
19. Radhakrishnan, S. *The Bhagavadgita*. George Allen and Unwin, London, 1948.
20. Radhakrishnan, S. *The Principal Upanishads*. George Allen and Unwin, London, 1953.
21. Rangarajan, L. N., editor and translator. *The Arthashastra*. Penguin Books India, 1992.
22. Sadhale, Nalini, translator. *Surapala's Vrikshayurveda*. Agri-History Bulletin No. 1, Asian Agri-History Foundation, Secunderabad, 1996.
23. Sharma, R. K., and Bhagwan Dash. *Agnivesa's Caraka Samhita*. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1976-2002.
24. Whitney, William Dwight, translator. *Atharva-Veda Samhita*. Harvard Oriental Series, vols. 7-8, Harvard University, 1905.
25. Winternitz, Moriz. *A History of Indian Literature*. University of Calcutta, 1927-1933.